P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-12* (Part-1) March- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमुख प्रतिपाद्य भक्तियोग का शास्त्रीय एवम् आधुनिक विवेचन

कौमुदी श्रीवास्तव
एसोसिऐट प्रोफेसर,
संस्कृत विभाग,
राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

सारांश

गीता में सांख्ययोग और कर्मयोग के अनुसार नियत कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है। सम्पूर्ण पदार्थ मृगतृष्णा के जल अथवा स्वप्न की सृष्टि के सदृश मायामय हैं और माया के कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरतते हैं इसलिए मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले समस्त कर्मों को कर्तापन के अभिमान से रहित होना चाहिए–यह सांख्ययोग का निचोड़ है। सिद्धि और असिद्धि में समत्व दृष्टि रखते हुए अनासक्तभाव से फल की इच्छा के त्याग के साथ कर्म में सन्नद्ध रहना चाहिए, यह कर्मयोग का मूल मन्त्र है। यद्यपि सांख्ययोग और कर्मयोग गीता के प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं लेकिन अनन्यभक्ति उनसे भी आगे है। वस्तुतः भक्तियोग गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है, इसे प्रस्तुत शोध–पत्र में प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी है। इसके साथ ही, भक्तियोग को न केवल शास्त्रीय दृष्टि से विवेचित किया गया है बल्कि उसे आधुनिक व्याख्याओं, टीकाओं आदि के सन्दर्भ में भी निरूपित किया गया है।

मुख्य शब्द : ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग, उपासना, फलाशा, साधन, साध्य, कर्तापन, आसक्ति, स्वधर्म।

प्रस्तावना

विश्व के सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थों में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान सर्वोपरि है। गीता का प्रमुख उद्देश्य है, अनादिकाल से अज्ञानान्धकार में डूबते जीवों को परमात्मा की प्राप्ति करवा देना और वह भी सरल तथा सुनिश्चित उपायों से, क्योंकि भारतीय दर्शन के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य या पुरुषार्थ 'मोक्ष की प्राप्ति' ही है। संसार के आवागमन से सदा सर्वदा के लिये मुक्त कर पाना ही भारतीय चिन्तनधारा का पार्यन्तिक लक्ष्य है जिसके लिये उपनिषद्वाक्य सहायक होते हैं।

गीता अपने को ब्राह्मविद्या, उपनिषद् तथा योगशास्त्र कहती है, जैसा कि उसके अठारहों अध्यायों की पुष्पिकाओं से प्रकट होता है।[1] योगशास्त्र में मोक्ष के अनैकान्तिक उपाय को ही 'योग' शब्द से अभिहित किया गया है। इतना ही नहीं, 'योग' की प्रशस्ति करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बन जाने के लिये प्रेरित भी करते हैं तथा कहते हैं कि तुम इस अभीष्ट योग को तब प्राप्त कर पाओगे जब विभिन्न प्रकार की कर्मफलादि की श्रृङ्खला से भ्रान्त तुम्हारी बुद्धि 'समाधि' की स्थिति में जाकर सर्वथा निश्चल और अविचल हो जायेगी। गीता, समाधिरूपी योग को साधन के रूप में स्वीकार करती हुई, समत्वभाव को ही 'योग' कहती है। इसी समत्वभाव की प्राप्ति के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने अधिकारीभेद से 'ज्ञान' और 'योग' नामक दो प्रकार की निष्ठाएँ बतायी हैं।[2] (3/3) प्रायः सभी शास्त्रों में भगवत्प्राप्ति के तीन प्रधान मार्ग बताये गये हैं – कर्म, उपासना और ज्ञान। किन्तु गीता में दो निष्ठाओं का ही कथन हुआ है। वस्तुतः उपासना का अन्तर्भाव ज्ञान तथा योग निष्ठा में ही हो जाता है। ज्ञान निष्ठा में साधक अपने को कर्तृत्व और भोक्तृत्व से रहित, तथा परमात्मा से अभिन्न मानकर उपासना करता है। इसके विपरीत जब अपने को सांसारिक तुच्छ प्राणी और परमात्मा को सर्वज्ञ एवं सर्वोच्च समझने वाला साधक भेददृष्टि से उपासना करता है, तब वह योगनिष्ठा कही जाती है[3] (9/15)। ज्ञाननिष्ठा की अपेक्षा योगनिष्ठा के द्वारा भगवत्प्राप्ति श्रेष्ठ तथा सरल है, क्योंकि ज्ञाननिष्ठा का साधन (मार्ग) अत्यन्त दुरूह एवं परिश्रमसाध्य है, जिसके कारण इस साधन के प्रति विरक्ति या अरूचि होने की भी सम्भावना हो सकती है, किन्तु योग निष्ठा में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण का कहना है कि योगी तपस्वियों तथा शास्त्रवेत्ताओं से भी श्रेष्ठ है, अतः हे अर्जुन तुम योगी बनो।[4] (6/46, 12/2)

सम्पूर्ण योगियों में भी श्रद्धालु योगी अर्थात् भक्त ही भगवान् को सर्वाधिक प्रिय हैं क्योंकि वे भक्त अन्तरात्मा से भजन करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा भक्त मेरे प्रति दृढ़ निश्चय वाला होकर मेरे नाम और गुणों का सङ्कीर्तन करता है।[5] (9/14) मुझको प्राप्त करने के लिये बारम्बार प्रणामपूर्वक प्रयत्न करता है, तथा मेरी छवि को हदयङ्गम करके अनन्य प्रेम से मेरी उपासना करता है। इसलिये वही मुझको प्राप्त करता है। मेरा चिन्तन करने वाले अपने परम प्रिय भक्तों के लिये योग एवं क्षेम को प्राप्त करवाने की व्यवस्था मैं ही करता हूँ। अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' कही जाती है तथा प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' कहलाता है अर्थात् भगवत्प्राप्ति के लिये जो साधन भक्त को प्राप्त है, सभी प्रकार के विघ्नों से बचाकर उसकी रक्षा करना क्षेम और जिस साधन की कमी उसकी पूर्ति करके स्वयम् अपनी प्राप्ति करा देना ही 'योग' है। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपु के द्वारा, भक्त प्रहलाद के साधन (मार्ग) में बड़े–बड़े विघ्न उपस्थित किये जाने पर भी भगवान् ने उस (प्रहलाद) की रक्षा करके अन्त में उसे अपनी प्राप्ति करवा दी। भगवान् को अपने भक्त से भक्ति और प्रेम ही चाहिए, क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण उन्हें वस्तुओं की चाह नहीं होती है। इसीलिये वे भक्त के द्वारा पत्र, पुष्प, फल यहाँ तक कि केवल जलमात्र अर्पण किये जाने पर भी प्रसन्न हो जाते हैं।[6] (9/26) विदुर, सुदामा तथा द्रौपदी के उदाहरणों से इस बात की पुष्टि होती है। आगे भगवान् का कथन है कि मैं चूँकि सभी प्राणियों में समभाव से व्याप्त हूँ, इसलिये ऐसा नहीं है कि कोई मुझे अधिक प्रिय या अप्रिय है, बल्कि जो भक्त मुझे प्रेम से अनन्य चित्त होकर भजता है, वही भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है भले ही वह अतिशय दुराचारी ही क्यों न हो।[7] (9/29, 30)

भगवान् कहते हैं कि अनन्य भक्ति के द्वारा, मेरे परायण होकर, आसक्ति रहित होकर जो मेरे नाम का श्रवण तथा सङ्कीर्तन करता है[8] (11/55) वही भक्त मुझे प्रिय और मान्य है[9] (6, 7) इसके अतिरिक्त जो भक्त मेरे ऊपर विश्वास करके, समस्तकर्मों को मेरे प्रति अर्पित करके मेरा चिन्तन अनन्य भक्ति योग से करता है वह इस संसार से मुक्त हो जाता है[10] (12, 13, 14) भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने प्रिय भक्तों का अति विस्तृत वर्णन 12वें अध्याय के श्लोक 13 से 20 तक में किया है। उनके अनुसार जितेन्द्रिय, द्वन्द्वातीत, अनुद्विग्न, हर्ष एवम् अमर्ष से मुक्त, शुचिता से युक्त, सन्तुष्ट स्थिरबुद्धि एवं श्रद्धायुक्त भक्त मुझे प्रिय हैं।[11] (12/29)

भक्त की भक्ति भी ईश्वर के प्रति तभी हो सकती है जब वह भगवान् के ऐश्वर्य, विभूति तथा योग शक्तिको तत्त्वतः जान जाय और उन्हें जगत् के कर्त्ता तथा नियन्ता के रूप में समझे[12] (10/7, 8) ऐसे भक्तों को ही मैं तत्त्वज्ञानरूप 'योग' को देता हूँ[13] (10/9, 10)। इसी अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा वह (भक्त) ब्रह्म को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।[14] (14/26)

भगवान् का कथन है कि अन्तकाल में मेरा स्मरण करते हुए शरीर को त्यागने वाला भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त करता है[15] (8/5, 10), उसका नाश या दुर्गति कभी नहीं होती है[16] ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि सभी प्रकार के भक्त जन परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होते है। भक्तियोग का सबसे सुखद परिणाम यह है कि मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म कभी नहीं होता है।[17] (8/15, 16)।

अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि पराभक्ति के द्वारा मुझको तत्त्वतः जानकर भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।[18] (18/54) तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो इसलिये तुम्हारे हित में कहता हूँ कि तुम शोकरहित होकर मेरी शरण में आकर मेरे भक्त बन जाओ।[19] (18/69, 65, 66) इस प्रकार भक्तियोग का कथन करने के पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जैसी इच्छा हो वैसा ही करो[20] (18/63)। भगवान् श्रीकृष्ण निर्णय का सम्पूर्ण भार अर्जुन पर छोड़ देते हैं; तथा भक्तियोग के द्वारा नष्ट हुए मोह वाले अर्जुन भी मोक्ष के लिये 'भक्तियोग' को ही श्रेष्ठ साधन (या मार्ग) समझते हुए, नतमस्तक होकर कहते हैं, ''कि आपकी कृपा से मेरा मोह समाप्त हो गया है तथा मैंने ज्ञान पा लिया है, अतः अब मैं वही करूँगा जो आप कहेंगे[21]'' (18/73)।

इस प्रकार अर्जुन के उपर्युक्त कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य 'भक्तियोग' ही है।

गीता : प्रमुख भाष्य

गीता के प्रतिपाद्य विषय को सुबोध बनाने की प्रक्रिया प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर चली आ रही है। 'गीता' विश्व का ऐसा अप्रतिम तत्त्वग्रन्थ है, जिस पर विश्व की प्रायः सभी भाषाओं में सर्वाधिक सङ्ख्या में टीकाएँ लिखी गयी हैं। शङ्कराचार्य (छठवीं शताब्दी ई0) द्वारा रचित 'गीताभाष्य' जगद्विख्यात है। यह भाष्य अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त पर आधारित है। गीता के शाङ्करभाष्य के बाद जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय भाष्य आया, वह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त द्रष्टा रामानुजाचार्य द्वारा प्रणीत है। ज्ञातव्य है कि रामानुजाचार्य का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी ई0 में हुआ था। गीता के शाङ्कर भाष्य और रामानुज भाष्य संस्कृत भाषा में ही लिखे गये थे। इसके पश्चात् और अन्य भाषाओं में भी गीता की टीकाएँ लिखी जाने लगीं। संवत् 1212 में सन्त ज्ञानेश्वर (संवत् 1197–1218) द्वारा लिखी गयी 'ज्ञानेश्वरी' नाम की टीका आयी, जो मराठी भाषा की अनुपम काव्यकृति है।

बुखारा के गुणी और विद्यानुरागी राजकुमार अलबेरूनी को बन्दी के रूप में महमूद गजनबी आक्रमण के समय भारत लाया था। आक्रमण काल में उसने किसी प्रकार संस्कृत सीखी। संस्कृत का ज्ञान होने पर उसने गीता का अध्ययन किया। उसने जो पुस्तक लिखी है, उसमें गीता की भूरि–भूरि प्रशंसा की गयी है। शेख अबुल रहमान चिश्ती ने फारसी में गीता का अनुवाद किया था। सम्राट अकबर ने प्रकाण्ड विद्वान् अबुल फैजी से गीता का फारसी में अनुवाद कराया था। इस अनूदित ग्रन्थ की भूमिका सम्राट् शाहजहाँ के विद्वान् पुत्र दाराशिकोह ने 'सरे अकबर' शीर्षक से लिखी थी। दाराशिकोह प्रणीत भूमिका में गीता के बारे में कहा गया है कि प्लेटो के गुरु पर भी गीता का अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा था तथा इससे व्यास की महानता का अनुमान लगाया जा सकता है।

सन् 1785 ईस्वी में विलायत के विद्वान् चार्ल्स बिल्किस ने अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया था। इस

अनुवाद ने यूरोप के दर्शनशास्त्रियों और तत्त्वचिन्तकों को अतिशय प्रभावित किया। बिल्किंस के उक्त अनुवाद के आधार पर डुपरों (फ्रांसीसी विद्वान्) ने दो वर्ष बाद ही फ्रांसीसी भाषा में गीता का रूपान्तर किया। इसके पश्चात् अनेक यूरोपीय भाषाओं में गीता के अनुवाद होने लगे। जर्मनी के महाकवि आगस्ट विल्हेम श्लेगल ने सन 1823 ईस्वी में गीता का जर्मन तथा लैटिन में रूपान्तर किया। इसके साथ ही, जर्मन विद्वान् विण्टरनित्स, पाल डायसन और मैक्समूलर ने गीता के महत्त्व के प्रचार में असाधारण योगदान किया है। अंग्रेजी कवि सर एडविन आरनॉल्ड द्वारा सन् 1885 ईस्वी में किये गये गीता के प्रसिद्ध अनुवाद ग्रन्थ 'दिव्य सङ्गीत' को 1888–89 के दौरान लन्दन पढ़कर ही गाँधीजी को गीता का प्रथम परिचय हुआ था। अमरीकी न्यायाधीश विन्थ्रौप सार्जेण्ट ने गीता का सरस अनुवाद किया था। ज्ञातव्य है कि वे भारत भी आये थे। एल.डी. बार्नेट द्वारा रचित गीता अनुवाद 1905 ई0 में, एनी बेसेण्ट कृत अनुवाद भी 1905 में, डब्ल्यू. डगलस पी. हिल कृत अनुवाद 1928 में, फ्रैङ्कलिन ऐडजर्टन कृत अनुवाद 1944 में, क्रिस्टोफर ईशरवुड कृत अनुवाद 1945 में प्रकाशित होकर संसार के सम्मुख आये। इसके अतिरिक्त केमेथ, सेण्डर्स, जे.सी. टामसन जैसे न जाने कितने विदेशी विद्वानों ने गीता को अनूदित रूप में प्रस्तुत किया है।

आधुनिककाल में उच्च कोटि के भारतीय विद्वानों, साधकों और राजनेताओं ने गीता पर टीकाएँ या व्याख्याएँ लिखी हैं। लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक, महात्मा गाँधी, योगिराज अरविन्द, डॉ0 राधाकृष्णनन्, आचार्य विनोबा भावे, जयदयाल गोयन्दका, स्वामी रामसुखदास प्रभृति तत्त्ववेत्ता मनीषियों और महात्माओं ने गीता पर हिन्दी/अंग्रेजी भाषा में विलक्षण भाष्य लिखे हैं।

श्रानेश्वरी

श्रीमद्भगवद्गीता पर अब तक जितने भाष्य आये हैं, उनमें 'श्रानेश्वरी' ग्रन्थराज है। मराठी भाषा के मर्मस्पर्शी लोकछन्द 'ओवी' में काव्यबद्ध यह टीकाशिरोमणि न केवल प्रासादिक शैली की सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक कलाकृति है, बल्कि यह भक्ति, धर्म, दर्शन, ज्ञान, अध्यात्म, योगसाधना, आचार विचार और लोक व्यवहार का अप्रतिम समुच्चय, संश्लेषण एवं समन्वय है। मोरेश्वर गणेश तपस्वी ने 'सुगम हिन्दी श्रानेश्वरी' के रूप में मूल मराठी से 'श्रानेश्वरी' का उत्तम पद्यानुवाद किया है, जिसमें उन्होंने 'ओवी छन्द' का सफल प्रयोग किया है, सच कहा जाय, तो 'सुगम हिन्दी श्रानेश्वरी' वस्तुतः 'श्रानेश्वरी' का पद्यानुवाद होने के साथ ही, समछन्दानुवाद भी है। 'ओवी' बड़ा ही लचीला छन्द है। इस प्रकार 'सुगम हिन्दी श्रानेश्वरी' सन्त ज्ञानेश्वर कृत 'श्रानेश्वरी' का श्रेष्ठ भाषान्तर, रूपान्तर तथा काव्यान्तर बन पड़ी है।

मनुष्य एक पल भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्मत्याग कदापि सम्भव नहीं। अतः मनुष्य को स्वयं की प्रकृति, प्रज्ञा या निष्ठा के अनुरूप तथा स्वधर्म अथवा स्वविवेक का अनुसरण करते हुए अनवरत कर्मपथ पर चलते रहना चाहिये।

गीता के तीसरे अध्याय के पाँचवें श्लोक का भाष्य करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर नैष्कर्म्य की असम्भवता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :

जब तक शरीर है निधान। कर्म करने तजने का प्रण।
है केवल घोर अज्ञान। कर्म गुणाधीन सभी।।
कर्त्तव्य कर्म हैं जितने भी। संकल्प से उन्हें तज दें भी।
इन्द्रियों के स्वभाव भी। क्या नष्ट हो जायेंगे?।।
क्या कान सुनना छोड़ देंगे?। नेत्र देखना तज देंगे?।
नाक के छेद न रहे। तो क्या गन्ध नहीं आयेगी?।।
क्या श्वसन रुक जायेगा? मन विकार रहित होगा?।
भूख–प्यास बोध न रहेगा? कामना होगी समाप्त?।।
क्या स्वप्न जागरण न रहेंगे? चरण चलना भुला देंगे?।।
यह छोड़ो, क्या नहीं रहेंगे। जन्म और मरण?।।
यदि यह सब चलता रहेगा? तो किस कर्म का त्याग होता?।
देहधारी के लिये सर्वथा। कर्मत्याग असम्भव।।
कर्म प्रकृति गुण के अधीन। होते सभी हैं पराधीन।
उन्हें करने तजने का अभिमान। इसलिये व्यर्थ।।
जैसे रथ में आरूढ़ रथी। स्वयं होता निश्चल यद्यपि।
सर्वत्र विचरता फिर भी। परतन्त्रता से।।
यद्यपि जड़ सूखा पत्ता। पवन पर वेग से उड़ता।
गगन में भी है विचरता। स्वच्छन्द–सा।।
वैसे माया के सहारे से। इन्द्रियों के माध्यम से।
कर्मातीत निरन्तरता से। कर्म करता रहता है।।
जब तक देह से नाता। कर्मत्याग नहीं हो सकता।
फिर भी कर्म तजूँगा कहता। केवल हठधर्मी।। [22]

जब कर्मत्याग नितान्त असम्भव है, तब मनुष्य को उचित कर्म हेतुरहित भाव से जीवन पर्यन्त सतत करते रहना चाहिये। गीता के तीसरे अध्याय के 8वें श्लोक का भाष्य करते हुए सन्त ज्ञानेश्वर ने प्रतिपादित किया है :

इसलिये हो पाना कर्मरहित। सम्भव नहीं जग में मीत।
क्यों चलें शास्त्रों के विपरीत। करो विचार इसका।।
इसलिये जो–जो कर्म उचित। और यथासम्भव है प्राप्त।
उसे होकर हेतुरहित। करते चलो।।
पार्थ, और है एक बात। तुम्हें नहीं है कौतुक ज्ञात।
ऐसा कर्म सहजतः। भवतारक होता है।।
देखो अधिकारानुसार। जो करे स्वधर्म का आचार।
उसके लिये मोक्ष का द्वार। निश्चय ही खुलता है।। [23]

कर्म करना अपरिहार्यता है, अनिवार्यता है; लेकिन पर्याप्त कदापि नहीं। कर्म में निरत रहते हुए भक्तियोग का पूर्ण अवलम्बन मुक्ति का ऋजुमार्ग है। इसलिये गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य भक्तियोग है। कर्म तो बीच में पड़ता है। उसके बिना एक क्षण रहा भी नहीं जा सकता, लेकिन एकमात्र अन्तिम लक्ष्य और हेतु है – ईश्वर का साक्षात्कार, जिसको प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता और ऐसे जीवन्मुक्त मनुष्य के लिये वस्तुतः कुछ भी करणीय नहीं रहता, फिर भी वह लोकहितार्थ हरिप्रेरित होकर कर्म करता रहता है।

गीता के सम्पूर्ण उपदेशों को सुनने के बाद अन्त में अर्जुन के अन्दर यह भाव स्वतः स्फूर्त होता है कि अब वह भगवान् श्रीकृष्ण के वचन या आदेश का पालन करेगा। इस सम्बन्ध में गीता के अठारहवें अध्याय के तिहत्तरवें श्लोक का भाष्य द्रष्टव्य है :

अर्जुन बोध से था निबद्ध। त्वद्रूप होते हुआ मुक्त।
अब प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध। लुप्त अनायास।।
आपका कृपाप्रसाद पाया। आत्मबोध मुझमें आया।
अब उस मोह का सफाया। करूँगा जड़–मूल से।।
अब करण अथवा अकरण। सम्भव जिस द्वैत के कारण।
वह समाप्त और आप बिन। दिखता न कुछ भी।।
इस विषय में सन्देह कतई। अब मुझमें रहा नहीं।
जहाँ कर्म ही होता नहीं। वह ब्रह्म मैं हो गया।।
आपकी कृपा से हुआ आत्मबोध। नष्ट हुआ कर्मबोध।
अब आपकी आज्ञा बिन। रहा न कुछ करने।।
जो दृश्य, दृश्य को मिटाता। जो द्वैत, द्वैत को ग्रसता।
जो एक प्रकार से रहता। सर्वव्यापी बन के।।
जिससे सम्बन्ध–बन्ध टूटता। आशा से आशा–बन्ध छूटता।
जिसके मिलते मिल जाता। आत्मस्वरूप।।
वे आप मेरे गुरुदेवता। जो एकान्त का सखा होता।
जिसके लिये मन करता। लाँघने को अद्वैत।।
तथा स्वयं होकर ब्रह्म। समाप्त कर्माकर्म।
यही जिसका असीम। सेवा कार्य।।
गङ्गा सागर सेवा में जाती। जाते ही सागरमय होती।
वैसे भक्त में पात्रता आती। निजपद पाने की।।
आप हुए सद्गुरु मेरे। अब भेदभाव कहाँ ठहरें।
किये उपकार बहुतेरे। करने मुझे ब्रह्ममय।।
आप और मुझमें, श्रीधर। था भेद का जो द्वार।
उसे हटा कर किया मधुर। सेवा सुख आपने।।
आपकी आज्ञा देवाधिदेव। शिरसावन्द्य है, माधव।
किसी भी कार्य की देव। आज्ञा कीजिये।।[24]

गीता–रहस्य

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक के अनुसार, गीतोक्त 'भक्ति मार्ग' कर्मप्रधान है अर्थात् भक्ति का साधन कर्म है, कर्म और साध्य के रूप में है, भक्ति। मुक्ति या सिद्धि के दो मार्ग हैं – ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग। लेकिन, गीताप्रतिपादित भक्तिमार्ग राजमार्ग है, क्योंकि वह कर्ममूलक, श्रद्धासंयुक्त, प्रेमपरिपूर्ण एवं प्रत्यक्ष होने के नाते सबके लिये खुला है और ज्ञानमार्ग की ही भाँति मोक्षप्रद भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वरप्राप्ति के साधनों में यह सर्वसुगम है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि उपासनारूपिणी विद्याओं में यह सर्वश्रेष्ठ, सर्वसुलभ और सर्वप्रमुख है। कर्म के साथ इसका अन्योन्याश्रय भाव है। कर्म को साधन और भक्ति को साध्य मान लेने पर, साधन और साध्य के बीच के बीच अपृथग्भाव को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कर्म और भक्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। गीता के अनुसार, मोक्षप्रद दो ही साधन हैं – एक है भक्तिमार्ग और दूसरा है ज्ञानमार्ग। भक्तिमार्ग में ही कर्मयोग अन्तर्निहित है। कर्म का साध्य है, भक्ति और भक्ति का साध्य है, परमेश्वर अर्थात् कर्म में निरत रहते हुए भक्ति का आश्रय लेकर ईश्वर की प्राप्ति करनी है।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक कृत 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र' (हिन्दी–अनुवाद : माधवरावजी सप्रे) के शक संवत् 1928 तदनुसार सन् 2006 ईस्वी में प्रकाशित अट्ठाइसवें संस्करण से लिये गये अग्रलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि गीतोक्त भक्तिमार्ग अन्योन्याश्रयभावेन कर्मयोग से सम्पृक्त है:

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तपभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

'जिसने इस सारे संसार को उत्पन्न किया है, उसकी अपने स्वधर्मानुसार निष्काम कर्माचरण से (न केवल वाचा से अथवा पुष्पों से पूजा करके) मनुष्य सिद्धि पाता है' (गीता : 18/46)। अधिक क्या कहें, इस श्लोक का और समस्त गीता का भी भावार्थ यही है कि स्वधर्मानुरूप निष्काम करने से सर्वभूतान्तर्गत विराट्रूपी परमेश्वर की एक प्रकार की भक्ति, पूजा या उपासना ही हो जाती है। ऐसा कहने से कि 'अपने धर्मानुरूप कर्मों से परमेश्वर की पूजा करो', यह नहीं समझना चाहिये कि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नहीं। परन्तु गीता का कथन है कि कर्मों को गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और इस नवविधा भक्ति में बिल्कुल निमग्न हो जाना उचित नहीं, शास्त्रतः प्राप्त अपने सब कर्मों को यथोचित रीति से अवश्य करना ही चाहिये। परन्तु उन्हें, स्वयं अपने लिये समझकर नहीं, किन्तु परमेश्वर का स्मरण कर इस निमर्म बुद्धि से करना चाहिये कि 'ईश्वर निर्मित सृष्टि के सङ्ग्रहार्थ उसी के ये सब कर्म हैं।' ऐसा करने से कर्म का लोप नहीं होगा; उलटे उन कर्मों से ही परमेश्वर की सेवा, भक्ति व उपासना हो जायेगी, और उन कर्मों के पाप–पुण्य के भागी हम न होंगे और अन्त में हमें पूर्ण सद्गति भी मिल जायेगी। गीता के उक्त सिद्धान्त पर ध्यान न देकर गीता के भक्तिप्रधान टीकाकारों का यह तात्पर्य भी एकपक्षीय है। गीता प्रतिपादित भक्तिमार्ग कर्मप्रधान है। और उसका मुख्य तत्त्व यह है कि परमेश्वर की पूजा न केवल पुष्पों या वाणी से होती है; अपितु वह स्वधर्मोक्त निष्काम कर्मों से भी होती है ; और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करनी चाहिये। जबकि कर्ममय भक्ति का यह तत्त्व गीता के समान अन्य किसी भी स्थान में प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्व को गीता प्रतिपादित भक्तिमार्ग का विशेष लक्षण कहना चाहिये।[25]

तिलक के अनुसार, गीता का यह कथन है कि स्वकर्म को परमेश्वरार्पण बुद्धि से करते रहना चाहिये। यह मानकर करना चाहिये कि करणीय कर्म परमेश्वर द्वारा ही नियत किया गया है। कर्म को स्वधर्म जानकर करना होगा। यह भाव मन में लाना होगा कि जो–जो कर्म हमें करने हैं, वे सब–के–सब परमेश्वर की इच्छा से हमारे लिये निर्दिष्ट किये गये हैं। उन्हें हमें निमित्तमात्र बनकर करना है। वास्तविक कर्ता तो परमात्मा हैं। यदि हम नियत कर्मों को केवल स्वधर्म या ईश्वरीय विधान जानकर विशुद्ध भगवदर्पण बुद्धि से करते हैं, तो उन कर्मों से सर्वभूतान्तर्गत परमेश्वर की उपासना होगी। इसके साथ ही, न हम कर्मबन्धन से बँधेंगे, न उनमें हमारी आसक्ति होगी और न उनके भलेबुरे का भोग हमें भोगना पड़ेगा। यदि हम अहंकार बुद्धि से कर्म करते हैं, ये कर्म मेरे हैं इस भाव से करते हैं, स्वार्थप्रेरित होकर कर्म करते हैं और उनमें कर्तापन का बोध बना रहता है ; तो उनके शुभाशुभ या पापपुण्य के भागी हम बनते हैं। तिलक महाराज ने इस विषयपर गीता रहस्य में लिखा है :

भगवान् ने अपने सब उपदेशों का तात्पर्य गीता के अन्तिम अध्याय में उपसंहार रूप से अर्जुन को इस प्रकार बतलाया है कि सब प्राणियों के हृदय में निवास करके परमेश्वर ही उन्हें यन्त्र के समान नचाता है ;

इसलिये ये दोनों भावनाएँ मिथ्या हैं कि मैं अमुक कर्म को छोड़ता हूँ या अमुक कर्म को करता हूँ। फलाशा को छोड़ सब कर्म कृष्णार्पण बुद्धि से करते रहो। यदि तू ऐसा निग्रह करेगा कि मैं इन कर्मों को नहीं करता, तो भी प्रकृति धर्म के अनुसार तुझे इन कर्मों को करना ही होगा। अतएव परमेश्वर में अपने सब स्वार्थों का लय करके स्वधर्मानुसार प्राप्त व्यवहार को परमार्थ बुद्धि से और वैराग्य से लोकसङ्ग्रह के लिये तुझे अवश्य करना ही चाहिये ; मैं भी यही करता हूँ; मेरे उदाहरण को देख और उसके अनुसार बर्ताव कर।' जैसे ज्ञान का और निष्काम कर्म का विरोध नहीं, वैसे ही भक्ति में और कृष्णार्पण बुद्धि से किये गये कर्मों में भी विरोध उत्पन्न नहीं होता।[26]

तिलक महाराज ने अपने टीका–मौक्तिक 'गीता–रहस्य' में सन्त तुकाराम और समर्थ रामदास स्वामी के जीवन प्रसङ्गों और वचनों के माध्यम से यह सिद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया है कि जब अव्यभिचारिणी भक्ति परमेश्वरार्पणपूर्ण कर्म के साथ उत्तरोत्तर आगे बढ़ती है, तब मानव जीवन पूर्ण, सार्थक, मुक्त एवं सिद्ध हो जाता है :

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भगवद्भक्त तुकाराम भी भक्ति के द्वारा परमेश्वर के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (कठोपनिषद्: 2/20 ; गीता : 8/9)–परमाणु से भी छोटा और बड़ा से भी बड़ा–ऐसे स्वरूप के साथ अपने तादात्म्य का वर्णन करके कहते हैं कि 'अब मैं केवल परोपकार के लिये ही बचा हूँ।' उन्होंने संन्यास मार्ग के अनुयायियों के समान यह नहीं कहा कि अब मेरा कुछ भी काम शेष नहीं है (तु. गाः 3587), बल्कि वे कहते हैं कि 'भिक्षापात्र का अवलम्बन करना लज्जास्पद जीवन है, वह नष्ट हो जावे। नारायण ऐसे मनुष्य की सर्वथा उपेक्षा ही करता है' (तु.गा. : 2595) अथवा 'सत्यवादी मनुष्य संसार के सब काम करता है ; मनुष्य जल में कमलपत्र के समान उनसे अलिप्त रहता है। जो उपकार करता है और प्राणियों पर दया करता है, उसी में आत्मस्थिति का निवास जानो।' (तु.गा. : 3780/2,3)। ..... गीता का सिद्धान्त यह है कि उत्कट भक्ति के साथ साथ मृत्युपर्यन्त ईश्वरार्पणपूर्वक निष्काम कर्म करते ही रहना चाहिये ; और यदि कोई इस सिद्धान्त का पूरा पूरा स्पष्टीकरण देखना चाहे, तो उसे श्री समर्थ रामदास स्वामी के 'दासबोध' ग्रन्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये, ... भक्ति के द्वारा अथवा परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप को पहचानकर जो सिद्धपुरुष कृतकृत्य हो चुके हैं, वे ''सब लोगों को 'सयाना' बनाने के लिये'' (दास : 19/10/14) जिस प्रकार निःस्पृहता से अपना काम यथाधिकार किया करते हैं, उसे देखकर साधारण लोग भी अपना व्यवहार करना सीखें; क्योंकि 'बिना किये कुछ भी नहीं होता' (दास. : 19/10/25 ; 12/9/6 ; 18/7/3) ; अन्तिम दशक में (दास. : 20/4/26) उन्होंने कर्म की सामर्थ्य का भक्ति की तारक शक्ति के साथ पूरा पूरा मेल इस प्रकार कर दिया है :

हलचल में सामर्थ्य है। जो करेगा वही पावेगा।।
परन्तु उसमें भगवान् का। अधिष्ठान चाहिये।। [27]

गाँधी जी का गीता–बोध

महात्मा गाँधी ने गीता को आध्यात्मिक दीपस्तम्भ की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि में, गीता का स्थान ऐसी सनातनी माँ के सदृश है जो मनुष्य को जीवनपर्यन्त अमृतपान कराती रहती है। जीवनदायिनी जननी मनुष्य को छोड़कर चली जाती है, परन्तु गीता माता का सान्निध्य, स्नेह, आशीर्वाद या प्रसाद उसे सतत् मिल सकता है। बापू के अनुसार, जब जब उनके सामने कोई कठिनाई, उलझन या जटिल समस्या आ खड़ी हुई, तब तब उन्होंने गीता माता का आश्रय लिया है और उनकी शरण में जाते ही सङ्कट से निपटने अथवा सङ्घर्ष से जूझने का मार्ग सहज ही सूझ पड़ता है। गाँधीजी अपनी पुस्तिका 'गीताबोध' की भूमिका में लिखते हैं :

.....हमारी देह में अन्तर्यामी श्रीकृष्ण भगवान् आज विराजमान हैं और जब जिज्ञासु अर्जुनरूप होकर धर्मसङ्कट में अन्तर्यामी भगवान् से पूछेगा, उसकी शरण लेगा, तो उस समय वह हम शरण देने को तैयार मिलेंगे। हम ही सोये हैं, अन्तर्यामी तो सदा जाग्रत् हैं। वह बैठा राह देखता है कि हममें कब जिज्ञासा उत्पन्न हो। पर हमें सवाल भी पूछना नहीं आता, सवाल पूछने की मन में भी नहीं उठती। इस कारण गीता–सरीखी पुस्तक का नित्य ध्यान धरते हैं, तब तब अपनी मुसीबत दूर करने के लिये हम गीता की शरण जाते हैं और उससे आश्वासन लेते हैं। इसी दृष्टि से गीता पढ़नी है। वह हमारी सद्गुरुरूप है, मातारूप है और हमें विश्वास रखना चाहिये कि उसकी गोद में सिर रखकर हम सही सलामत पार हो जायेंगे। [28]

गीता के अध्यायों का भावार्थ करते हुए गाँधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भक्ति ही सर्वोपरि है, उसके बिना ज्ञान और कर्म की स्थिति हमेशा डाँवाडोल बनी रहती है। उनका मानना था कि भक्ति के बिना अनासक्ति की कल्पना तक भी नहीं की जा सकती। गाँधी के निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

1. भक्ति के बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बन्धनरूप हो जाने की सम्भावना है। ..... वे (सभी मार्ग) एक दूसरे के साथ मिले जुले तो हैं ही। चाहे जिस मार्ग से हो, तुझे तो भक्त होना है।[29]
2. ..... भक्ति के बिना फल में अनासक्ति असम्भव है।[30]
3. ...भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदय में जो बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है।[31]

गीता तत्त्व विवेचनी

'गीता तत्त्वविवेचनी' जयदयाल गोयन्दका द्वारा विक्रम संवत् 1996 में लिखी गयी टीका है। सर्वप्रथम उसका अवतरण मासिक पत्र 'कल्याण' (गीता प्रेस, गोरखपुर) के 'गीतातत्त्वाङ्क' के रूप में हुआ था। यद्यपि 'गीता तत्त्वविवेचनी' कहती है कि ''गीता में केवल भक्ति का ही वर्णन नहीं है, (बल्कि) ज्ञान, कर्म और भक्ति–तीनों का ही सम्यक्तया प्रतिपादन हुआ है''[32]; फिर भी ''गीता ने भक्ति को भगवत्प्राप्ति का प्रधान साधन माना है – लोगों की यह मान्यता भी ठीक ही है। गीता ने भक्ति को बहुत ऊँचा स्थान दिया है और स्थान–स्थान पर अर्जुन को भक्त बनने की आज्ञा भी दी है (9/34, 12/8 ; 18/57, 65, 66)।''[33] युद्धक्षेत्र में अतिशय मोहग्रस्त होने के कारण जब अर्जुन स्वधर्म और कर्त्तव्यकर्म का निर्धारण करने में सर्वथा असमर्थ हो गया तथा कायरता व दीनता के पङ्क में आकण्ठ डूब गया, तब उसने भगवान् श्रीकृष्ण से निवेदन किया कि मैं आपकी शरण में आ गया हूँ और जो मार्ग

मेरे लिये निर्भ्रान्त रूप में श्रेयस्कर हो, कृपया उसे बतलायें क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि गीतोपदेश का श्रीगणेश, वस्तुतः शरणागति से होता है और सम्पन्न भी शरणागति में होता है। इतना ही नहीं, समस्त गीतोपदेश की फलश्रुति यह होती है कि अर्जुन का मोह नष्ट हो जाता है, उसे स्मृति प्राप्त हो जाती है, उसका सारा संशय जाता रहता है और वह पूर्णरूपेण उद्यत हो उठता है भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा का अक्षरशः पालन करने के लिये। इससे यह स्थापित हो जाता है कि गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य भक्तियोग ही है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्थान–स्थान पर अर्जुन को परमेश्वर की भक्ति करते हुए स्वधर्म के आचरण का उपदेश दिया है। भक्ति से सम्पृक्त कर्मयोग गीता का प्रधान उपदेश है। हृदय में सदासर्वदा अनन्य भक्ति का सञ्चार होता रहे, सतत् स्वकर्म का उद्योग होता रहे, जो कुछ भी सम्पादित किया जाय उसे भगवदर्पण बुद्धि से निष्ठापूर्वक किया जाय, नियत कर्म को परमेश्वर का आदेश मानते हुए निमित्तमात्र की भूमिका में निरहंकार होकर अर्थात् कर्तृत्व (कर्तापन) के अभिमान से मुक्त होकर उसे किया जाय, मन व बुद्धि को भगवतोन्मुख किया जाय– यह है, गीता के स्वकर्मनिष्ठ या स्वधर्माधृत भक्तियोग का तत्त्वबोध। 'गीता तत्त्वविवेचनी' में यह तथ्य उभरकर सामने आया है :

गीता में भक्ति, ज्ञान, कर्म–सभी विषयों का विशद रूप से विवेचन किया गया है ; सभी मार्गों से चलने वालों को इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है। किन्तु अर्जुन भगवान् के भक्त थे ; अतः सभी विषयों का प्रतिपादन करते हुए जहाँ अर्जुन को स्वयम् आचरण करने के लिये आज्ञा दी है, वहाँ भगवान् ने उसे प्रायः भक्तिप्रधान कर्मयोग का उपदेश दिया है (3/30; 8/7; 12/8; 18/57, 62, 65, 66)। कहीं कहीं केवल कर्म करने की भी आज्ञा दी है (2/48, 50 ; 3/8, 9, 19; 4/42; 6/46; 11/33, 34) परन्तु उसके साथ भी भक्ति का अन्य स्थलों से अध्याहार कर लेना चाहिये। चौथे अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में जो भगवान् ने अर्जुन को ज्ञानियों के पास जाकर ज्ञान सीखने की आज्ञा दी है, वह भी ज्ञान प्राप्त करने की प्रणाली बतलाने तथा अर्जुन को चेतावनी देने के लिये। वास्तव में भगवान् का आशय अर्जुन को ज्ञान सीखने के लिये किसी ज्ञानी के पास भेजने का नहीं था और न अर्जुन ने जाकर उस प्रक्रिया से कहीं ज्ञान सीखा ही। उपक्रम–उपसंहार को देखते हुए भी गीता का पर्यवसान शरणागति में ही प्रतीत होता है। वैसे तो गीता का उपदेश अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' (2/11) इस श्लोक से प्रारम्भ हुआ है ; किन्तु इस उपक्रम का बीज 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (2/7) अर्जुन की इस उक्ति में है, जिसमें 'प्रपन्नम्' पद से शरणागति का भाव स्पष्ट है। इसीलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (18/66) इस श्लोक से भगवान् ने शरणागति में ही अपने उपदेश का उपसंहार भी किया है।[34]

'गीता तत्त्वविवेचनी' ने इस तथ्य की ओर सङ्केत किया है कि गीता में एक भी अध्याय ऐसा नहीं है, जिसमें भक्ति का प्रसङ्ग किसी–न–किसी रूप में उल्लिखित न हो। इसके साथ ही, सातवें से लेकर बारहवें तक के सभी अध्यायों में भक्तियोग का निरूपण भरा पड़ा है। इन सबसे यह सिद्ध होता है कि भक्तियोग गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है। इस सन्दर्भ में 'गीतातत्त्वविवेचनी' द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित विवरण ध्यातव्य है :

गीता का ऐसा कोई भी अध्याय नहीं है, जिसमें कहीं–न–कहीं भक्ति का प्रसङ्ग न आया हो। उदाहरण के लिये दूसरे अध्याय का इकसठवाँ, तीसरे अध्याय का तीसवाँ, चौथे अध्याय का ग्यारहवाँ, पाँचवें अध्याय का उनतीसवाँ, छठें अध्याय का सैंतालीसवाँ, सातवें अध्याय का चौदहवाँ, आठवें अध्याय का चौदहवाँ, नवें अध्याय का चौंतीसवाँ, दसवें अध्याय का नवाँ, ग्यारहवें अध्याय का चौवनवाँ, बारहवें अध्याय का दूसरा, तेरहवें अध्याय का दसवाँ, चौदहवें अध्याय का छब्बीसवाँ, पन्द्रहवें अध्याय का उन्नीसवाँ, सोलहवें अध्याय का पहला (जिसमें 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' पद के द्वारा भगवान् के ध्यान की बात कही गयी है), सत्रहवें अध्याय का सत्ताईसवाँ और अठारहवें अध्याय का छाछठवाँ श्लोक देखना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक अध्याय में भक्ति का प्रसङ्ग आया है। सातवें से लेकर बारहवें अध्याय तक में भक्तियोग का प्रकरण भरा पड़ा है; इसीलिये इन छहों अध्यायों को भक्ति प्रधान माना गया है। यहाँ उदाहरण के लिये प्रत्येक अध्याय के एक एक श्लोक की ही सङ्ख्या दी गयी है।[35]

साधक सञ्जीवनी

'श्रीमद्भगवद्गीता : साधक सञ्जीवनी' स्वामी रामसुख दास द्वारा लिखी गयी एक बृहत् टीका है, जिसमें ग्रन्थकार ने विशद् विवेचन के बाद यह स्थापित किया है कि गीता की दृष्टि में भक्तियोग सर्वश्रेष्ठ है। 'साधक सञ्जीवनी' में रामसुखदास लिखते हैं :

गीता में मुख्य रूप से तीन योग कहे गये हैं – कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन तीनों पर विचार किया जाय, तो भगवान् का प्रेम तीनों ही योगों में है। कर्मयोग में उसको 'कर्त्तव्यरति' कहते हैं अर्थात् वह रति कर्त्तव्य में होती है –'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः' (18/45)। (कर्मयोग की यह रति अन्त में आत्मरति में परिणत हो जाती है (गीता : 2/55 ; 3/17) और जिस कर्मयोगी में भक्ति के संस्कार हैं, उसकी यह रति भगवद्रति में परिणत हो जाती है।) ज्ञानयोग में उसी प्रेम को 'आत्मरति' कहते हैं अर्थात् वह रति स्वरूप में होती है – 'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः' (5/24)। और भक्तियोग में उसी प्रेम को 'भगवद्रति' कहते हैं –'तुष्यन्ति च रमन्ति च' (10/9) इस प्रकार इन तीनों योगों में रति होने पर भी गीता में 'भगवद्रति' की विशेष रूप से महिमा गायी गयी है।[36]

भक्तियोग की सर्वश्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए साधक सञ्जीवनी' के टीकाकार ने आगे लिखा है :

तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी –इन तीनों से भी योगी (समतावाला) श्रेष्ठ है (गीताः 6/46)। तात्पर्य यह है कि जड़ता से सम्बन्ध रखते हुए बड़ा भारी तप करने पर, बहुत–से शास्त्रों का (अनेक प्रकार का) ज्ञान सम्पादन करने पर और यज्ञ, दान, तीर्थ आदि के बड़े–बड़े अनुष्ठान करने पर जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब अनित्य ही होता है, पर योगी को नित्य तत्त्व की प्राप्ति होती है। अतः तपस्वी, ज्ञानी और कर्मी–इन तीनों से 'योगी' श्रेष्ठ है। इस प्रकार के कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, हठयोगी, लययोगी

आदि सब योगियों में भी भगवान् ने 'भक्तियोगी' को सर्वश्रेष्ठ बताया है। (गीता : 6/47)।[37]

गीता रसामृत

'गीता रसामृत' शिवानन्दकृत टीकाग्रन्थ है, जिसे सर्वसेवा संघ (वाराणसी) ने प्रकाशित किया है। यह कर्मयोग को गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य मानता है। इस टीका ने भक्तियोग को कर्मयोग के अन्तर्गत ही रखा है। ऊपर से देखने पर लगता है कि इसमें कर्मयोग को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त है, लेकिन गहराई से निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यहाँ भी भक्तियोग और कर्मयोग के अनन्यभाव को केन्द्र में रखा गया है। नवम अध्यायः 'राजविद्या राजगुह्य योग' का सार सञ्चय प्रस्तुत करते हुए शिवानन्द ने अपनी टीका 'गीता रसामृत' में लिखा है :

श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म त्यागकर भक्ति करने का उपदेश नहीं करते बल्कि कर्म करते हुए भक्तिपूर्ण रहने का आदेश देते हैं। भक्ति एक भाव है, एक आनन्दमग्नता है, अथवा एक रस है, जो कर्म की अन्तर्धारा है। कर्म बहिरङ्ग है तथा भक्ति अन्तरङ्ग है।[38]

कम्प्यूटर की शब्दावली का यदि प्रयोग किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि कर्म 'हार्डवेयर' है, और भक्ति 'साफ्टवेयर'।

भगवद्गीता : ज्ञान एवं गान

कनाडा मौसम विज्ञान विभाग में विज्ञानी के रूप में अपनी सेवाएँ दे चुके डॉ. भारतेन्दु ने आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'भगवद्गीता : ज्ञान एवं गान' की रचना की है, जिसमें उन्होंने गीता के श्लोकों का शब्दार्थ, यत्किञ्चित् भाष्य एवं पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। सदासर्वदा भक्तिमान रहते हुए सतत स्वकर्म करने का निश्चयार्थ इस ग्रन्थ में इतस्ततः प्रस्फुटित हुआ है।

गीता के आठवें अध्याय के सातवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अनुप्राणित करते हुए कहते हैं कि तुम नित्य निरन्तर मेरा स्मरण करते हुए युद्ध अर्थात् स्वधर्मानुसार नियम कर्म में रत हो जाओ। मुझमें मन और बुद्धि का अर्पण करके निस्सन्देह तू मुझे प्राप्त होगा। डॉ. भारतेन्दु कृत पद्यानुवाद अधोलिखित है :

अतएव, अर्जुन, मुझको तू भज और युद्ध करने को हो रत,
मन बुद्धि अर्पण करके मुझको प्राप्त करेगा है निश्चित
(8/7)[39]

गीता में श्रीकृष्ण उद्घोष करते हैं कि स्वकर्म को दैवी इच्छा मानकर सतत भगवत्स्मरण करते हुए परमेश्वरार्पण बुद्धि एवं निमित्तमात्र भाव से वह अवश्यमेव करणीय है। जो ऐसा करता है, वह शुभाशुभ कर्मबन्धन में कभी नहीं फँसता है और उसे मुक्ति या सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। द्रष्टव्य है, डॉ. भारतेन्दु कृत पद्यानुवाद :

जो कुछ कर्म, भोजन और यज्ञ एवं देता है तू दान,
तप भी अपना कर मुझे अर्पण, अर्जुन, मेरी बात मान।
(9/27)
इस अर्पण और वैराग्य से कटें शुभाशुभ कर्मबन्धन,
मुक्त होकर मुझे पायेगा सुन मित्र, कुन्तीनन्दन। (9/28)[40]

निष्कर्ष

लोगों के मन में यह धारणा बलवती हो गयी है कि गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य कर्मयोग ही है, जबकि मूलतः उसके समस्त उपदेशों का एकमेव केन्द्रबिन्दु भक्तियोग है क्योंकि भक्तिमार्ग सुलभ, सुगम और सहज है। लेकिन, भक्त भी अपने लिये नियत कर्मों को परमेश्वर्रापणबुद्धि से सदैव करता चले। परमात्मा में अहर्निश चित्त लगाकर निष्ठापूर्वक किये गये स्वकर्मों का लेप भक्त पर नहीं लगता और साथ ही, इस रीति से सम्पन्न कर्मों से उसे मुक्ति, सिद्धि या सद्गति मिल जाती है। गीता के प्रायः सभी प्राचीन एवम् अर्वाचीन टीकाओं में भक्ति का उद्घोष किया गया है। अतः गीता का सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य 'भक्तियोग' ही है।

पाद टिप्पणी

1. *तत्सदिति श्रीमद्भगवदगीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे.... अध्यायः।*
2. *लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठापुराप्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगे साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। (3/3)*
3. *ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। (9/15)*
4. *तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगीभवार्जुन।। (6/46)*
   मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। (12/2)
5. *सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।(9/14)*
6. *पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।। (9/26)*
7. *समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। (9/29,30)*
8. *मत्कर्मकृन्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (11/55)*
9. *ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। (12/6)*
   तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। (12/7)
10. *अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रःकरुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।*
    सन्तुष्टः सततं योगी गतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। (12/13, 14)
11. *ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते। श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।। (12/20)*
12. *एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। (10/7)*
    अहं सर्वस्य प्रभवोमत्तः सर्वं प्रवर्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। (10/8)
13. *मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। (10/9)*
    तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। (10/10)
14. *मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म भूयाय कल्पते।। (14/26)*
15. *अन्त काले च मामेव स्मरन्मुत्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्तया युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये*

प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। (8/10)

16. *न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति। (6/40)*
17. *मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् नाप्नुवन्ति महात्मानां संसिद्धिंपरमां गताः। (8/15)*
    मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। (8/16)
18. *समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। (18/54)*
19. *इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततोवक्ष्यामि ते हितम्। (18/64)*
    मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।(18/65)
    सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (18/66)
20. *विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। (18/63)*
21. *नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।*
    स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। (18/73)
22. *सुगम हिन्दी श्रानेश्वरी {सन्त ज्ञानेश्वर कृत 'श्रानेश्वरी' (श्रीमद्भगवद्गीता की पुरानी मराठी में लिखित टीका) का मोरेश्वर गणेश तपस्वी द्वारा प्रणीत हिन्दी काव्यानुवाद)}, साहित्य अकादमी (रवीन्द्र भवन, 35 फीरोजशाह रोड, नयी दिल्ली–110001), 1996, अध्याय दूसरा, पृष्ठ : 92–93, ओवी छन्दः 53 से 63 तक।*
23. *पूर्वोक्त, पृष्ठ 94, ओवी छन्द : 77 से 80 तक।*
24. *पूर्वोक्त, अध्याय अठारहवाँ, पृष्ठ : 831–832, ओवी छन्दः 1563 से 1575 तक।*
25. *लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक : श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र (हिन्दी अनुवाद : माधवराव जी सप्रे), प्रकाशक : दी.ज. तिलक एवं शै. श्री. तिलक (568, नारायण पेठ, लो.तिलक–मन्दिर, पूणे 411030, महाराष्ट्र) अट्ठाइसवाँ संस्करण, शके 1928 सन् 2006, तेरहवाँ प्रकरणः भक्तिमार्ग, पृष्ठ : 287–288*
26. *पूर्वोक्त, पृष्ठ : 286*
27. *पूर्वोक्त, पृष्ठ : 286–287*
28. *मो.क. गाँधी : गीताबोध और मङ्गल प्रभात, सर्व सेवा संघ (वाराणसी, उत्तर प्रदेश), दूसरा संस्करण (नवम्बर, 1969), प्रास्ताविक, पृष्ठ 3*
29. *पूर्वोक्त, बारहवाँ अध्याय, पृष्ठ 50–51*
30. *पूर्वोक्त, नवाँ अध्याय, पृष्ठ 46*
31. *पूर्वोक्त, पृष्ठ : 45*
32. *जयदयाल गोयन्दका : श्रीमद्भगवद् गीता तत्त्वविवेचनी, (गीता प्रेस गोरखपुर–2730005, उत्तर प्रदेश), संवत् 2052 (तृतीय संस्करण), नम्र निवेदन तथा गीता माहात्म्य, पृष्ठ : 17*
33. *पूर्वोक्त, पृष्ठ : 11*
34. *पूर्वोक्त, पृष्ठ : 17*
35. *पूर्वोक्त*
36. *स्वामी रामसुख दास : श्रीमद्भगवद् गीता : साधक सञ्जीवनी, (गीता प्रेस गोरखपु, उ.प्र.), ग्यारहवाँ संस्करण (संवत् 2047), अध्याय 18, पृष्ठ : 1102 (इस पृष्ठ पर, 'भगवद्गति' के सम्बन्ध में एक पादटिप्पणी दी गयी है, जो इस प्रकार है– ''भगवान् में रति या प्रियता प्रकट होती है–अपनेपन से। परमात्मा के साथ जीव का अनादिकाल से स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है। अपनी चीज स्वतः प्रिय लगती है। अतः अपनापन प्रकट होते ही भगवान् स्वतः प्यारे लगते हैं। प्रियता में कभी समाप्त न होने वाला अलौकिक, विलक्षण आनन्द है। वह आनन्द प्राप्त होने पर मनुष्य में स्वतः निर्विकारिता आ जाती है। फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि कोई भी विकार पैदा हो ही नहीं सकता। पारमार्थिक आनन्द न मिलने से ही कामादि विकार पैदा होते हैं अर्थात् आनन्द न मिलने से नाशवान् वस्तुओं से सुख लेने की इच्छा होती है, जिससे सब विकार पैदा होते हैं। उत्पत्तिविनाशशील वस्तुओं के साथ अपनापन करने से ही यह जीव भगवान् से विमुख हो जाता है। विमुखता होने पर भी भगवान् की प्रियता कभी मिट नहीं सकती। नास्तिक–से–नास्तिक भी आफत पड़ने पर पुकार उठता है कि कोई ईश्वर है तो रक्षा करे।*
37. *पूर्वोक्त, पृष्ठ 1102–1103*
38. *शिवानन्द : गीतारसामृत, नवम अध्यायः 'राजविद्या राजगुह्य योग' (सार सञ्चय), पाँचवाँ संस्करण (जुलाई, 2001), सर्व सेवा संघ प्रकाशन (राजघाट, वाराणसी–221001, उ.प्र.), पृष्ठ : 332*
39. *डॉ. भारतेन्दु : भगवद्गीता : ज्ञान एवं गान, नई आजादी प्रकाशन (21–बी, मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद–211002, उत्तर प्रदेश), भाग 2 (भगवद्गीता गान), अध्याय 8, पृष्ठ 347*
40. *पूर्वोक्त, अध्याय 9, पृष्ठ : 359*